मोह-लीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह होता है ।
मोह-हीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह खोता है ॥
अल्पज्ञान भी मोहरहित जो मोक्ष-महल में ले जाता ।
वरना, विधि-बन्धन ही भाई मोह-गहल में क्यों नाता ॥९८॥

कामादिक ये जहाँ उपजते सुनो वही संसार रहा ।
जिसका संचालन होता है कर्म-बन्ध अनुसार रहा ॥
कर्मों का कारण जीवों का अपना-अपना भाव रहा ।
जीव भाव्य ये अभव्य भी हैं चिर से बस भटकाव रहा ॥९९॥

भव्यपना औ अभव्यपन ये जीवों के बस ! आप रहें ।
मूंग मोट कुछ पकते, कुछ नहिं, भले अनल का ताप सहे ॥
भव्यपने की व्यक्ति सादि हो अभव्यपन की अनादिनी ।
स्वभाव को कब तर्क छू सकी ? श्रुति गाती सुख सुहागिनी ॥१००॥

लोकालोकालोकित करता युगपत केवलज्ञान रहा ।
वही आपका तत्त्वज्ञान जिन ! प्रमाण है वरदान रहा ॥
तथा नयात्मक ज्ञान" रहा जो स्यादवाद से है भाता ।
विषय बनाता क्रमशः सबको 'प्रमाण' फलतः कहलाता ॥१०१॥

आदिम प्रमाण का फल सुन लो विरागपन है अमल रहा ।
त्याज्य-त्याग में ग्राह्य-ग्रहण में प्रीति इतर का सुफल रहा ।
या विनाश अज्ञानभाव का स्यादवाद का फल माना ।
किसमें हित औ अहित निहित है आत्मबोध का बल पाना ॥१०२॥

सही अर्थ से बात कराता स्यात्पद शाश्वत सार रहा ।
अनेकान्त को साथ कराता दिखा वस्तु का पार अहा ॥
रहा ज्ञेय जो उसके प्रति ही सदा विशेषण धार रहा ।
सो श्रुतिधर के हे जिनवर ! तव वचनों का शृंगार रहा ॥१०३॥

दूर रहा, एकान्तवाद से स्यादवाद वह कहलाता ।
मूल रहा सापेक्षवाद का तभी कथंचित् विधि-दाता ।
सप्तभंग-मय कथन-प्रणाली समयोचित ही अपनाता ।
त्याज्य ग्राह्य क्या ? तथा बताता, रखूँ उसी से अब नाता ॥१०४॥

स्यादवाद मय ज्ञान रहा औ पूरण केवल ज्ञान रहा ।
सकल-ज्ञेय को विषय बनाते दोनों सा परमाण अहा ॥
परोक्ष और प्रत्यक्ष रहें इनमें से यदि एक रहा ।
वस्तुतत्त्व का कथन नहीं हो बाध नहीं कुछ नेक रहा ॥१०५॥

साध्य-धर्म को विपक्ष से तो सदा बचाने लक्ष रहा ।
किन्तु साथ ही साध्य-सिद्धि में लेता अपना पक्ष रहा ॥
स्यादवाद मय प्रमाण का जो सुनो अर्थ है विषय रहा ।
उसी अर्थ को विशेषता को विषय बनाता सुनय रहा ॥१०६॥

कई भेद उपभेद कई हैं, सुनो, नयों के, जता रहे ।
भिन्न भिन्न एकान्तरूप से विषय नयों के तथा रहे ॥
त्रैकालिक उन विषयों का ही एकतान यह द्रव्य रहा ।
और द्रव्य भी अनेक विध है उपादेय निज द्रव्य रहा ॥१०७॥

भिन्न भिन्न नय-विषयों का वह समूह मिथ्या नहिं होता ।
क्योंकि सुनो तो हठाग्रही ना जिनमत के नय हैं ! श्रोता ॥
रहें परस्पर निरपेक्षित जो, मिथ्या नय हैं कहलाते ।
सापेक्षित नय समीचीन हो वस्तु, जनाते वह तातें ॥१०८॥

वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन जब, जब वचनों से होता है ।
विधान का या निषेध का तब आलम्बन होता है ॥
निजवश ही तो वस्तु रही है परवश सो वह रही नहीं ।
यही व्यवस्था रही अन्यथा सूनी सब कुछ रही नहीं ॥१०९॥

वस्तुतत्त्व यह तदतत् होता यह कहना तो समुचित है ।
किन्तु वस्तु तो तत् ही है बस ! यह प्रलाप तो अनुचित है ॥
असत्य वचनों से फिर भी यदि तत्त्वदेशना होती हो ।
कैसी हित करने वाली "सो" दुःख लेश ना हरती हो ॥११०॥

नियम रहा प्रत्येक वचन वह निजी अर्थ का पक्ष धरे ।
अन्य वचन के किन्तु अर्थ का निषेध करने दक्ष अरे ॥
सुगत कहें सामान्य स्वार्थ को इसी भाँति बस हम माने ।
तो फिर सब को गगनपुष्प सम जाने माने पहिचाने ॥१११॥

यदि मानो सामान्य वचन वह विशेष के प्रति मौन रहा ।
मिथ्या सो एकान्त रहा है सत्य वचन फिर कौन रहा ।
सुनो इष्ट के परिचय देने में सक्षम "स्यातकार" रहा ।
सत्य अर्थ का चिंह यही है, सो उसका सत्कार रहा ॥११२॥

विधेय है प्रतिषेध्य वस्तु का अविरोधी सुन भाई महा ।
कारण, है वह इष्ट कार्य का भंग रहा अनिवार्य अहा ॥
आपस में आदेयपना औ हेयपना का पूरक है ।
स्यादवाद बस यही रहा सब वादों का उन्मूलक है ॥११३॥

विराग का उपदेश सही है सराग का उपदेश नहीं ।
यही ज्ञान बस ध्येय रहा है और आस कुछ लेश नहीं ॥
लिखी आप्तमीमांसा फलतः शास्त्रबोध अनुसार रहा ।
आत्महितैषी बनो सुनो यह मात्र बोध निस्सार रहा ॥११४॥

पद्यानुवादक-प्रशस्ति

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

निधि-नभ-नगपति-नयनका सुगन्ध-दशमी योग ।
लिखा ईसरी में पढ़ो, बनता शुचि उपयोग ॥२॥

मंङ्गल-कामना

विहसित हो जीवनलता विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूंघता महक उठी आ-मूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को हरूँ ताप बन शान्त ।
गति-अगति रीत मिटे मिले आप निज प्रान्त ॥२॥

रग रग से करुणा झरे दुखी जनों को देख ।
विषय-सौख्य में अनुभव स्वार्थ-सिद्धि की रेख ॥३॥

रस-रूपादिक हैं नहीं मुझ में केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ चिर औ, हूँ जिनके बल जान ॥४॥

तन मन से औ वचनसे पर का कर उपकार ।
यह जीवन रवि सम बने मिलता शिव-उपहार ॥५॥

हम, यम दम शम सम धरें क्रमशः कम श्रम होय ।
देवों में भी देव हो अनुपम अधिगम होय ॥६॥

बात बहे मंगल मयी छा जावे सुख छाँव ।
गति सब की सरला बने टले अमंगल भाव ॥७॥

मना ध्रुव निधि का धाम हो क्यों ? बनता तू दीन ।
है उसको बस देख ले होकर निज में लीन ॥८॥

इष्टोपदेश
एवं
द्रव्य-संग्रह

इष्टोपदेश

मूल : इष्टोपदेश (संस्कृत)

रचानाकार : आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

इष्टोपदेश (१)

(वसन्ततिलका छन्द)

दुष्टाष्ट कर्म दल को करके प्रनाश,
पाया स्वभाव जिनने, परितः प्रकाश,
जो शुद्ध है अमित, अक्षय बोधधाम,
मेरा उन्हे विनय से शतशः प्रणाम ॥१॥

ज्यों ही यहाँ वर रसायण-योग ढोता,
पाषाण जो कनक-मिश्रित, हेम होता
त्यों द्रव्य क्षेत्र अरु काल सुयोग पाता,
संसारि-जीव परमात्मपना गहाता ॥२॥

चारित्र से अमर हो वह श्रेष्ठ ही है,
होना कुनारक असंयम से बुरा है ।
तो भेद भी इन व्रताऽव्रत में अहा ! है,
'छायातपौ' इनमें जितना रहा है ॥३॥

जो आत्म भाव शिव सौख्य यदा दिलाता,
स्वर्गीय सौख्य वह क्या न तदा दिखाता ।
दो कोस भार सहसा जब जो निभाता,
क्यों अर्द्ध कोस तक ले उसको न जाता ? ॥४॥

है दीर्घ काल रहता, पल में न जाता,
आतंकहीन अरु जो महिमें न पाता ।
ओ नाकवासिसुख है मन-मोहनीय,
क्या क्या कहूँ अमर सौख्य अवर्णनीय ॥५॥

जो दुःख ? और सुख है तन धारियों का,
है व्याज मात्र तृण-बिन्दु, सुखेच्छुकों का ।
जैसे भगंदर, जलोदर, कुष्ट रोग,
वैसे नितान्त दुखदायक हाय ! भोग ॥६॥

विज्ञान जो अतितिरोहित मोह से है,
ना जानता वह निजीय स्वभाव को है ।
जैसा यहीं मदक, भंग शराब को पी,
ना जानता मनुज भक्ष्य अभक्ष्य को भी ॥७॥

माता, पिता, बहित और सुता व गेह ।
औ मित्र, पुत्र, सुकलत्र व अर्थ तह ।
ये आत्म से सकल भिन्न सुनिश्चया है,
पै मूढ़ स्वीय कहता इनको वृथा है ॥८॥

पक्षी अहो ! दश-दिशागत जो यहाँ पै,
प्रत्येक वृक्ष पर वे बसते, जहाँ से ।
है स्वीय कार्य वश हो उड़ते उषा में,
स्वच्छंद होकर असीम दशो-दिशा में ॥९॥

क्यों मूढ़ श्वान सम है करताति क्रोध,
हंता जनों पर, अतः उसमें न बोध ।
जो खोदता अवनिको जब फावड़ा से,
नीचे झुके वह तदैव निसर्गता से ॥१०॥

जो राग द्वेष करता, बस कर्म ढोता,
संसारि जीव भव को अति ही बढ़ाता ।
अज्ञान से सुचिर है दुख ही उठाता,
है नित्य दौड़ भव-कानन में लगाता ॥११॥

आपत्ति एक टलती जब लौं अहा ! है
दूजी अहो ! चमकती तब लौं वहाँ है ।
स्वामी ! यहाँ स्थिति सदा घटियंत्र की सी
संसार सागर निमज्जित जीव की भी ॥१२॥

है नश्यमान व परिश्रम प्राप्त अर्थ,
रक्षार्थ नेक बनते इसके अनर्थ ।
संतुष्ट हाय ! इससे निज को मनुष्य
पी मानता घृत यथा जवरवान अवश्य ॥१३॥

धिक्कार ! मूर्ख लखता न निजापदा को,
क्यों देखता वह सदा परकी व्यथा को ।
दावा सुव्याप्त वन में मृगयूथ को जो,
रे देखता वह तरुस्थ मनुष्य है ज्यों ॥१४॥

हैं अर्थ को समझते निज से अमूल्य
सम्पत्ति हीन वह जीवन पर्ण तुल्य ।
श्रीमंत मानव सदा इस भांति गाते,
आदर्श जीवन धनार्जन में बिताते ॥१५॥

जो अर्थ हीन वह मानव सर्वदा ही,
दानार्थ अर्थ चुनता व सुखार्थ मोही ।
मैं स्नान हूँ कर रहा इस भांति बोले,
ओ पंक से स्वतन को निज हाथ धोले ॥१६॥

प्रारंभ में परम ताप अहो दिलाते,
तो प्राप्ति में विषम आकुलता बढ़ाते ।
है अंत में कठिन त्याज्य कुभोग ऐसे !!!
भोगे सकाम इनको बुध लोग कैसे ? ॥१७॥

सौगंध्य पूर्ण वह चंदन है पवित्र,
ज्यों देह संग करता, बनताऽपवित्र ।
काया घृणास्पद अतीव तथा विनाशी,
सेवा करे न इसकी ऋषि जो उदासी ॥१८॥

जो श्रेष्ठ मित्र उपकारक जीव का है,
होता वही अनुपकारक देहका है ।
होती नितांत जिससे जड़ देह पुष्टि,
होती कभी न उससे पर जीव पुष्टि ॥१९॥

है एक हाथ खल-खंड अहो दिखाता,
तो रत्न अन्य करमें वर सौख्य दाता ।
दोनों मिले स्वपरिणामतया यहाँ पे,
विद्वान का फिर समादर हो कहाँ पे ? ॥२०॥

है देह के वह बराबर सौख्यधाम,
आत्मा अमूर्त, नित नित्य उसे प्रणाम ।
औ देखता सकल लोक अलोक को है,
विज्ञान गम्य गहिं इन्द्रिय गम्य जो है ॥२१॥

एकाग्र चित्त-बल से सब इंद्रियों का,
व्यापार बन्द करके दुख दायकों का ।
आत्मा स्वकीय घर में रह आत्म को ही,
ध्यावे निजीय बल से तज मोह मोही ॥२२॥

सत्संग से परम बोध यहाँ कमाते
दुःसंग से अबुध हो, हम दुःख पाते ।
तो गंध छोड़ वह चंदन और क्या दे ?
जो पास हो उचित है वह ही सदा दे ॥२३॥

ना जानता परिषहादिक को विरागी,
होना न आस्रव जिसे वह मोक्ष मार्गी ।
अध्यात्म योग बल से फलतः उसी की,
होती सही ! नियम से नित निर्जरा ही ॥२४॥

मैं हूँ यहाँ परम निर्मल वस्त्र कर्ता,
ऐसा पदार्थ युग में विधि-बंध भाता,
आत्मा हि ध्यान अरुध्येय यदा व ध्याता,
तो कौनसा फिर तदा पर संग नाता ? ॥२५॥

जो जीव मोह करता, वसु कर्म ढोता,
निर्मोह भाव गहता, द्रुत मुक्त होता ।
शुद्धात्म को इसलिए दिनरैन ध्याओ,
ओ ! वीतराग मय भाव स्व-चित्त लाओ ॥२६॥

मैं एक हूँ, परम शुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानी,
वे ही मुझे निरखते, मुनि जो अमानी,
ये राग, रोष, ममकार, विकार भाव,
संयोग जन्य, जड़ हैं, मम ना स्वभाव ॥२७॥

संयोग पाकर तनादिकका यहाँ रे,
संसारि जीव दुख भाजन हो रहा है ।
तो कायसे वचन से मन से तजूं मैं,
संमोह को, इसलिए निज को भजूं मैं ॥२८॥

मेरा नहीं मरण है, फिर भीति कैसी ?
रोगी नहीं, फिर व्यथा किसकी हितैषी ।
मैं हूँ नहीं परम वृद्ध युवा न बाल,
ये हैं यहाँ सकल पुद्गल के बबाल ॥२९॥

भोगे गये निखिल पुद्गल बार बार,
संसार-मध्य मुझसे, दुख है अपार ।
भोगूं उन्हें !! अब पुनः यह निंद्य कार्य !!
उच्छिष्ट सेवन करे जग में अनार्य ॥३०॥

है कर्म, कर्म सबको निज पास लाता
तो जीव आत्म हित को नित चाहता था ।
हो जाय स्वीय पद में बलवान कोई ।
इच्छा निजीय हितकी किसको न होई ? ॥३१॥

हे ! मित्र त्याग कर शीघ्र परापकार,
हो स्वोपकार रत तू जग को विसार ।
होना विमुक्त परके हितमें सुलीन,
मोही दुखी इसलिए गति हीन दीन ॥३२॥

सत् शास्त्र के मनन से गुरु भाषणों से,
विज्ञान रूप स्फुट नेत्र सहायता से ।
जो जानते स्वपर अन्तर को यहां है,
जाने सदैव शिवको सब वे अहा ! है ॥३३॥

विज्ञान रूप गुण से निजको जनाता,
औ आप में रमण की अभिलाष लाता ।
धाता निजीय सुख का जग में तथा है,
आत्मा वही 'गुरु' अतः निज आत्म का है ॥३४॥

पाता अभिज्ञ न कभी इस अज्ञता को,
तो अज्ञ भी न गहता उस विज्ञता को ।
धर्मास्तिकाय जग ज्यों गति हेतु मात्र,
त्यों ही अभव्य जनको गुरु और शास्त्र ॥३५॥

विद्वेष, राग रति, मोह विकार रिक्त,
औ तत्व-बोध स्थित है जिसका सुचित्त ।
आलस्य हास्य तज औ निजगीत गावे,
एकांत में वह निजात्म स्वभाव ध्यावे ॥३६॥

ज्यों विश्वसार परमोत्तर आत्म तत्व,
विज्ञान में उतरता, वह साध्य तत्व ।
अच्छे नहीं विषय त्यों लगते यहाँ पे,
जो प्राप्त हैं सहज यद्यपि रे ! धरापे ॥३७॥

ज्यों ज्यों नहीं विषय है निजको सुहाते,
जो जीवको भव सरोवर में गिराते ।
त्यों त्यों अहो परम उत्तम साध्य तत्त्व,
विज्ञान में उतरता वह आत्म तत्व ॥३८॥

आत्मा यदा निजनिरंजन रूप ध्याता,
है इन्द्रजाल सम विश्व उसे दिखाता ।
अन्यत्र है मन कभी यदि स्वल्प जाता,
तो क्या कहूँ वह तदा अति दुःख पाता ॥३९॥

प्यारा जिसे विपिन जो लगता यहाँ है,
एकान्त वास करता वह तो सदा है ।
आत्मीय कार्य वश हो यदि बोलता है,
तो शीघ्र ही तज उसे निज साधता है ॥४०॥

विद्वेष, राग, रति से अति दूर जो हैं,
वे बोलते यदि तथापि न बोलते है ।
ना देखते अपरको लखते हुए भी,
जाते नहीं गमन वे करते हुए भी ॥४१॥

कैसे कहाँ व किसका यह कौनसा है,
यों प्रश्न भी करता निज में बसा है ।
है जानता न अपने तनको विरागी,
जो योग लीन नित है पर वस्तु त्यागी ॥४२॥

जो जीव वास करता सहसा जहाँ है,
निर्भ्रान्त लीन रहता वह तो वहाँ है ।
जो भी जहाँ रमें मुद से सदैव,
अन्यत्र ना गमन हो उनका पृथव ॥४३॥

ज्ञाता, अचेतन मयी तनका नहीं है,
जो देह का स्मरण भी करता नहीं है ।
ज्ञानी वही, विविध कर्म न बांधता है,
होता प्रमुक्त उनसे, शिव साधता है ॥४४॥

देहादि तो पर अतः सब दुःख रूप,
आत्मा निजीय सुखधाम, सुधास्वरूप ।
सारे अतः सतत सादर सन्त लोग,
आत्मार्थ ध्यान धरते, तज सर्व भोग ॥४५॥

जो आत्म सौख्य तज इन्द्रिय भोग लीन,
मूढात्म है जगत में वह भाग्य हीन ।
पाता अतः दुख सदा भव में नितांत,
यों बार बार तनधार अपार क्लांत ॥४६॥

शुद्धात्म को हि वह केवल ध्येय मान
सारे विकल्प तजता, द्रुत हेय, जान ।
योगी सुयोग बल से अति श्लाघनीय,
पाता सुसौख्य जग जो बुध शोधनीय ॥४७॥

जो नित्य कर्ममय-इन्धन को जलाता,
है आत्म जन्य सुख तो शिव रूप भाता ।
योगी अतः परिषहादिक से यहां पे,
हैं खेदता न गहते, नित तोष पाते ॥४८॥

अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती,
है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमें दिखाती ।
आराधनीय वह है निज दर्शनीय,
स्वामी ! मुमुक्षु जनसे जग शोधनीय ॥४९॥

है अन्य जीव जड़ पुद्गल अन्य भाता,
है 'तत्व सार' यह यों जिन शास्त्र गाता ।
जो भी अहो कथन अन्य यहाँ दिखाता,
विस्तार मात्र इसका, इसमें समाता ॥५०॥

इष्टोपदेश पढ़ आदर से सुभव्य,
'मानापमान' इनमें धर साम्य दिव्य ।
एकान्तवाद तज, ग्राम अरण्य में वा,
धारे चरित्र, जिससे शिव-मिष्ट-मेवा ॥५१॥

थे भव्य-पंकज-प्रभाकर पूज्य पाद,
था आपमें अति प्रभावित साम्यवाद ।
वन्दूँ उन्हें विनयसे मनसे त्रिसंध्या,
'विद्या' मिले, सुख भले, पिघले अविद्या ॥५२॥

इष्टोपदेश (२)

(ज्ञानोदय छंद)

सुर-नर ऋषि-वर से सदा, जिनके पूजित-पाद ।
पूज्य-पाद को नित नमूं, पाऊं परम-प्रसाद ॥मंगलाचरण॥

जिस जीवन में पूर्ण रूप से, सब कर्मों का विलय हुआ,
उसी समय पर सहज रूप से, स्वभाव रवि का उदय हुआ ।
जिसने परम पावन परिमल, ज्ञानरूप को वरण किया,
बार-बार बस उस परमातम, को उस मन ने नमन किया ॥१॥

स्वर्ण बने, पाषाण-स्वर्ण का, स्वर्ण-कार का हाथ रहा,
अनल-मिलन से जली मलिनता, समुचित-साधन साथ रहा ।
योग्य-द्रव्य हो योग्य-क्षेत्र हो, योग्य-भाव के योग मिले,
आतम-परमातम बनता है, भव-भव का संयोग टले ॥२॥

व्रत-पालन से सुरपुर में जा, सुर-पद पाना इष्ट रहा,
पर व्रत बिन नरकों में गिरना, खेद ! किसे वह इष्ट रहा ।
घनी छाँव में, घनी धूप में, स्थित हो अन्तर पहिचानो,
अरे ! हितैषी व्रताव्रतों में कितना अन्तर तुम मानो ॥३॥

जिन-भावों से नियम रूप से, मिलता है नव शिवपुर है,
उन भावों से भला ! बता दो, क्या ? ना मिलता सुर-पुर है ।
द्रुतगति से जो वाहन यात्रा, कई योजनों की करता,
अर्ध-क्रोश की यात्रा करने, में भी क्या ? वह है डरता ॥४॥

पंचेन्द्रिय-सुख हो कर भी जो, आतंकों से दूर रहा,
युग-युग तक अगणित वर्षों तक, लगातार भर-पूर रहा ।
सुर-सुख तो बस सुरसुख जिसको, अनुभवते सुर-पुर-वासी,
कहे कहां तक ? किस विध ? किसको ? आखिर हम तो वनवासी ॥५॥

तन-धारी जीवों का सुख तो, मात्र वासना का जल है,
दुख ही दुख है सुख-ला लगता, मृग-मरीचिका का जल है।
संकट की घड़ियों में जिस विध, रोग-भयंकर, उस विध हैं,
भोग सताते भोक्ताओं को, भोग हितंकर किस विध हैं ? ॥६॥

पुरुष यहां उन्मत्त बना हो, जिसने मदिरा पान किया,
निज-का पर-का हिताहितों का, उसे कहां ? हो ज्ञान जिया।
मोह-भाव से घिरा हुआ यदि, जिसका भी वह ज्ञान रहा,
स्वभाव को फिर नहीं जानता, यथार्थ में अज्ञान रहा ॥७॥

धन तन के तन वतन उपावन, मात-पिता सुत-सुता अरे !
परिजन पुरजन सहचर अनुचर, अग्रेचर रिपु तथा रहें।
सुन-सुन सब ये आतम से अति भिन्न-स्वभावी-ज्ञात रहे,
मूढ़ इन्हें नित निजी मानते, भव में भटके भ्रान्त रहें ॥८॥

दिशा-दिशा से देश-देश से, उड़-उड़ पक्षी दल आते,
डाल-डाल पर पात-पात पर, पादप पर निशि बस जाते।
अपने अपने कार्य साधने, उषा काल में फिर उड़ते,
दिशा-दिशा में देश-देश में, कहां देखते फिर मुड़के ॥९॥

हत्यारा यदि हत्या करता, तुम क्यों ? उस पर क्रोध करो,
हत्यारे तो तुम भी हो फिर, कुछ तो मन में बोध धरो।
त्र्यंगुल को निज पैरों से जो, कोई मानव गिरा रहा
उसी समय पर उसी दण्ड से, स्वयं धरा पर गिरा अहा ! ॥१०॥

दधि मन्थन के काल मथानी, मन्थन-भाजन में भ्रमती,
कभी इधर तो कभी उधर ज्यों, क्षण भर भी ना है थमती।
राग-द्वेष की लम्बी-लम्बी, डोरी से यह बँधा हुआ,
ज्ञान बिना त्यों भव में भ्रमता, रुदन करे गल रुंधा हुआ ॥११॥

भरे रीतते कुछ भरते घट, तब तक यह क्रम चलता है,
घटी-यन्त्र का परिभ्रमण वह, जब तक रहता चलता है।
इसी भांति भवसागर में भी, एक आपदा टलती है,
कई आपदायें आ सन्मुख, मोही जन को छलती हैं ॥१२॥

जिनका अर्जन बहुत कठिन है, संरक्षण ना सम्भव है,
स्वभाव जिनका मिटना ही है, ये धन-कंचन-वैभव हैं।
फिर भी निज को स्वस्थ मानते, धनपति धन पाकर वैसे,
ज्वर से पीड़ित होकर जो जन, घृत-मय भोजन कर जैसे ॥१३॥

वन में तरु पर बैठा जैसा, मन में चिंतन करता है,
वन्य-जन्तु अब जले मरे सब, आग लगी वन जरता है।
पर की चिन्ता जैसी करता, अपनी चिन्ता कब करता ?
मूढ़ बना तन पुनि-पुनि धरता, मरता है पुनि-पुनि डरता ॥१४॥

काल बीतता ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों, आयु कर्म वह घटे बढ़े,
धन का वर्धन धनी चाहते, प्रति दिन हम तो बनें बढ़े।
कहें कहां तक धनी लोग तो, जीवन से भी जड़ धन को,
परम-इष्ट परमेश्वर कहते, धन्यवाद धन-जीवन को ॥१५॥

निर्धन धन अर्जित करता है, दान हेतु यदि वह नाना,
दान कर्म का ध्येय बनाया, कर्म खपाना शिव पाना।
कार्य रहा यह ऐसा जैसा, अपने तन पर करता है-
लेप पंक का कोई मानव, ''स्नान करूंगा कहता है'' ॥१६॥

प्राप्त नहीं हो जब तक, तब तक, महा ताप कर काम-सभी,
किन्तु प्राप्त हो जाने पर तो, कभी तृप्ति का नाम नहीं।
अन्त-अन्त में तो क्या कहना ? जिनका तजना सरल नहीं,
सुधी रचे फिर काम-भोग में ? जिन का मन हो तरल कहीं ॥१७॥

मलयाचल का चन्दन चूरण, चमन चमेली चातुरता,
कुन्द पुष्प मकरन्द सुगन्धी, गन्ध-दार मन्दारलता ।
पदार्थ सब ये तन संगति से, गन्ध-पूर्ण भी गन्दे हों,
सदा अहित कर तन का यदि तुम, राग करो तो, अन्धे हो ॥१८॥

तन का जो उपकारक है वह, चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है ।
सब शास्त्रों का सार यही है, चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो ॥१९॥

एक ओर तो चिन्तामणि है, दिव्य रही, मन हरती है,
और दूसरी ओर कांच की, मणिका जग को छलती है ।
ध्यान-साधना से ये दोनों, मानो भ्राता ! मिलती हैं,
आदर किसका बुधजन करते ? आंखें किस पर टिकती हैं ॥२०॥

अपने-अपने संवेदन में, अमर्त हो आतम भाता,
रहा रहेगा त्रिकाल में है, अतः अनश्वर है भ्राता !
तात्कालिक तन प्रमाण होता, अनन्त सुख का निलय रहा,
लोकालोका-लोकित करता, सदा लोक का उदय रहा ॥२१॥

चपल-स्वभावी सभी इन्द्रियाँ, इनको संयत प्रथम करो,
मनो योग से मन माना मन, को भी मंत्रित तुरत करो ।
अपने में स्थित हो अपने को, अपनेपन से आप तथा,
ध्याओ अपने आप भला फिर, ताप मिटे संताप व्यथा ॥२२॥

अज्ञानी की शरण गहो तो, सुनो तुम्हें अज्ञान मिले,
ज्ञानी-जन की उपासना से, ज्ञान मिले वरदान फले ।
जिसका स्वामी जो होता है, प्रदान उसको करता है,
लोक नीति यह सुनी सभी ने, प्रमाण विरला करता है ॥२३॥

योगी जन अध्यात्म योग से, चेतन में आबाध रहे,
मनो-योग को वचन-योग को, काय-योग को साध रहे ।
परीषहों को, उपसर्गों को, सहते विचलित कब होते ?
कर्म-निर्जरा आस्रव-रोधक, संवर प्रचलित सब होते ॥२४॥

यूं हि परस्पर दो दो में तो, होता है सम्बन्ध रहा,
कर्म रहा मम कर्त[1], कर्त का मैं, कर्ता हूं प्रतिबन्ध रहा ।
एकमेक जब ध्यान योग हो, आतम का ही आतम ओ !
फिर किस विध सम्बन्ध बन्ध हो, सोपन ही जब खातम हो ॥२५॥

इसीलिए तुम पूर्ण यत्न से, निर्ममता का मनन करो,
चिन्तन-मन्थन-आराधन भी, तथा उसी को नमन करो ।
जीव कर्म से बंधता तब है, ममता से जब मण्डित हो,
बन्धन से भी मुक्त वही हो, निर्ममता में पण्डित हो ॥२६॥

एक अकेला निर्मम हूँ मैं, योगी को ही दिखता हूं,
शुद्ध-शुभ्र हूं ज्ञानी होता, ज्ञानामृत को चखता हूं ।
माया, ममता, मोह, मान, मद, संयोगज ये भाव अरे !
भिन्न सर्वथा मुझसे हैं यूं, इनमें हम समभाव धरें ॥२७॥

अवांछनीय दुःखों का फल है, यह संसारी बना हुआ,
संयोगज भावों का फल है, रागादिक में सना हुआ ।
इसी बात को जान मान कर, उपकृत हूं गुरुवचनों से,
रागादिक को पूर्ण त्यागता, तन से, मन से, वचनों से ॥२८॥

मरण नहीं है मेरा मुझको, कहां भीति हो ? किससे हो ?
व्याधि नहीं है मुझमें, मुझको, वृथा व्यथा फिर किससे हो ?
बाल नहीं हूं, युवा नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं ज्ञात रहे,
ये पुद्गल की रहीं दशायें, चेतन मेरा साथ रहे ॥२९॥

१. चटाई

मोह-भाव से विगत-काल में, मुझ से ये पुद्गल-सारे,
बहुत बार भी, बार-बार भी, भोगे, छोड़े, उर धारे ।
वमनरूप-सम भोगों में अब, मेरा मन यदि फिर जाता,
विज्ञ बना मुझको शोभा क्या ? देता उत्तर लजवाता ॥३०॥

कर्म चाहता तभी कर्म-हित, कर्म कर्म से जब बंधता,
जीव चाहता तभी जीवहित, जीवन जिससे है सधता ।
अपने-अपने प्रभाव के वश, बलशाली हैं जब होते,
स्वार्थ सिद्धि में कौन-कौन फिर, तत्पर ना हो ? सब होते ॥३१॥

पर को उपकारों का अब ना, पात्र बनाओ भूल कभी,
निज पर ही उपकार करो अब, पात्र रहा अनुकूल यही ।
करते दिखते सदा परस्पर, लौकिक जन उपकार यथा,
करते दिखते अज्ञ निरन्तर, पर पर ही उपकार तथा ॥३२॥

गुरु का उपदेशामृत निज को, सर्वप्रथम तो पिला दिया,
तदनुसार अभ्यास बढ़ाया, प्रयोग करता चला गया ।
निजानुभव से निज-पर अन्तर, तभी निरन्तर जान रहा,
जान रहा वह मोक्ष सौख्य भी, अब तक जो अनजान रहा ॥३३॥

प्रशस्त-तम है अपनेपन में, जो उसका अभिलाषक है,
स्वयं किसी उपदेश बिना भी इष्ट-तत्व का ज्ञापक है ।
जो कुछ अब तक मिला मिलेगा, निज हित का भी भोक्ता है,
अत: समझ तू आतम का तो, आतम ही गुरु होता है ॥३४॥

अज्ञ रहा तो अज्ञ रहेगा, नहीं विज्ञता पा सकता,
विज्ञ रहा तो विज्ञ रहेगा, नहीं अज्ञता पा सकता ।
केवल निमित्त धर्म द्रव्य है, गति में जैसा होता है,
एक अन्य के कार्य विषय में, समझो वैसा होता है ॥३५॥

रागात्मक लहरें ना उठतीं, जिनका मानस शान्त रहा,
हय तथा भावय विषय में, तत्व-ज्ञान निर्भ्रान्त रहा ।
योगी जन निर्जन वन में ना, निद्रा विजयी तथा बने,
प्रमाद तज निज साधन कर ले, कालजयी फिर सदा बने ॥३६॥

तत्वों में तो परम तत्व है, आत्म तत्व जो सुख-दाता,
जैसे जैसे अपने अपने, संवेदन में है आता ।
वैसे वैसे भाविकजनों को रुचते ना हैं भले-भले,
पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले ॥३७॥

पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले,
जैसे जैसे भाविकजनों को, रुचते ना हैं भले-भले ।
वैसे वैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता,
तत्वों में परम तत्व है, आत्मतत्व जो सुख दाता ॥३८॥

इन्द्र-जाल सम स्वभाव वाला, पल-पल पलटन शीला है,
सार-शून्य-संसार सकल है, नील-निशा की लीला है ।
इस विध चिन्तन करता योगी, आत्म-लाभ का प्यासा है,
पल-भर भी यदि बाहर जाता, खेद खिन्न हो श्वासा है ॥३९॥

जन, मन, जन-रंजन में जिस को, किसी भांति ना रस आता,
अत: सदा एकान्त चाहता, मुनि बन वन में बस जाता ।
निजी कार्य वश कभी किसी से, कुछ कहना हो कहता है,
कह कर भी झट विस्मृत करता, अपनेपन में रहता है ॥४०॥

यदपि बोलते हुए दीखते, तदपि बोलते कभी नहीं,
चलते जाते हुए दीखते, फिर भी चलते कभी नहीं ।
आत्म तत्व स्थिर जिनका उनकी, जाती महिमा कही नहीं,
दृश्य देखते हुए दीखते, किन्तु देखते कभी नहीं ॥४१॥

यह सब क्या है ? क्योंहै ? किस विध ? कब से ? किसका ? है किससे ?
इस विध चिन्तन करता-करता, जो निज चिति में फिर-फिर से !
अपनी काया की भी सुध-बुध, भूल कहीं खो जाता है,
योग परायण योगी वह तो, एकाकी हो जाता है ॥४२॥

जो भी मानव निवास करता, जहां कहीं भी पाया है,
नियम रूप से उसने अपना, वहां राग दिखलाया है ।
भाव-चाव से जहां रम रहा, जीवन अपना बिता रहा,
उसे छोड़ कर कहीं न जाता, छन्द यहां यह बता रहा ॥४३॥

बाहर योगी जब ना जाता, बाहर का फिर ज्ञान कहां ?
बाहर का जब ज्ञान नहीं है, विषयों का फिर नाम कहां ? ।
विषयों का जब नाम नहीं है, रागादिक का काम कहां ?
रागादिक का काम नहीं तो, बन्ध कहां ? शिवधाम वहां ॥४४॥

पर तो पर है समझो भ्राता !, पर से अति दुःख मिलता है,
आतम तो आतम है भाता, आतम से सुख मिलता है ।
यही जानकर यही मानकर, महामना ऋषि सन्त यहां-
आत्म-साधना में रत रहते, सुख पाने गुणवन्त महा ॥४५॥

कभी स्व-पर को नहीं जानता, रहा अचेतन यह तन है,
फिर तन का अभिनन्दन करता, मूढ़ बना तूं चेतन है ? ।
साथ चलेगा तुझ को फिर ना, चउगतियों में छोड़ेगा,
पापों से जोड़ेगा तुझको, भव-भव में तू रोयेगा ॥४६॥

बाहर के व्यवहार कृत्य से, तन-मन-वच से मुड़ता है,
भीतर के अध्यात्म वृत्त से, चेतन-पन से जुड़ता है ।
फलतः परमानन्द जागता, राग-भाग्य अब भाग चला,
योगी का यह योग योग है, वीतराग पथ लाग चला ॥४७॥

योग साधना में कब दुख हो, योगी का उद्योग यही,
योगी भीतर बाहय दुःख में, देता कब उपयोग सही ? ।
आतम में आनन्द उदित हो, साधक को सन्तुष्ट करे,
कर्मरूप ईन्धन को अविरत, जला जलाकर नष्ट करे ॥४८॥

जिसे अविद्या देख कांपती, पल भर में बस नस जाती,
महा-बलवती ज्ञान ज्योति वह, कहलाती है, सुख लाती ।
बात करो तो करो इसी की, याद इसी की करो सदा,
मुमुक्षु हो तुम इसी दृश्य को, दृष्टा में भरो सदा ॥४९॥

जीव सदा से अन्य रहा है, अन्य रहा तन पुद्गल है,
तत्व ज्ञान बस यही रहा है, माना जाता मंगल है ।
फिर भी जो कुछ और कथन यह, सुनने सन्तों से मिलता,
मात्र रहा विस्तार उसी का, तत्व-ज्ञान से तम मिटता ॥५०॥

सुधी सही इष्टोपदेश का, ज्ञान करे अवधान करे,
मानपने अपमानपने का, समान ही सम्मान करे ।
निराग्रही मुनि बन वन में या, उचित भवन में वास करे,
पाले निरुपम मुक्ति सम्पदा, भव्य भवों का नाश करे ॥५१॥

जहां अनेकों पुण्य जिन, धाम एक से एक ।
रंच जिन किरणों से करे, प्रतिदिन सा अभिषेक ॥१॥

रामटेक को देखते, प्रकटे स्व-पर विवेक ।
विराम स्वातम में करो, विघटे विपद अनेक ॥२॥

ऋषि रसना रस गन्ध, की पौष शुक्ल गुरु तीज ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, भुक्ति मुक्ति का बीज ॥३॥

भगवान बाहुबली (गोमटेश-श्रुति)

गोमटेश अष्टक

मूल : गोमटेश थुदि (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य नेमिचंद सिद्धांत चक्रवर्ती.

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

गोमटेश अष्टक

ज्ञानोदय छन्द (लय-मेरी भावना)

नील कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित हैं,
शशि-सम मनहर सुख कर जिनका मुख-मण्डल मृदु प्रमुदित हैं।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की पराग नित मम मति पीती ॥१॥

गोल-गोल दो कपोल जिन के उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की सूण्डा सम बाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे।
कन्धों पर आ, कर्ण-पाश वे नर्तन करते नन्दन हैं,
निरालम्ब वे नभ-सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन हैं ॥२॥

दर्शनीय तव मध्य भाग है गिरि-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्य शंख भी आप कण्ठ से हार गया वह विफल रहा।
उन्नत विस्तृत हिमगिरि-सम है स्कन्ध आपका विलस रहा
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पद में मन निवस रहा ॥३॥

विंध्याचल पर चढ़ कर खरतर तप में तत्पर हो बसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु जन के शिखामणी तुम हो लसते।
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश तुम नमन तुम्हें हो सदा चाह बस मन वशि हो ॥४॥

मृदुतम बेल लताएँ लिपटी पग से उर तक तुम तन में,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन में
तुम पद-पंकज में अलि बन सुर-पति गण करता गुन-गुन है
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ॥५॥

[illegible] अम्बर-तल थित हो दिग अम्बर नहिं भीत रहे,
[illegible] विषयन से अति विरत रहे, भव भीत रहे।
[illegible] घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहे,
[illegible] स्वीकार नमन हो धुलता मन का मैल रहे ॥६॥

[illegible] तुम को छू नहिं सकती। समदर्शन के शासक हो,
[illegible] विषयन में [illegible] ताप मूल के नाशक हो।
[illegible] में [illegible] मम विगत राग हो रोष जला,
[illegible] मम में मम सम विष गलत राग हो, होत चला ॥७॥

[illegible] में [illegible] में [illegible] हुए
[illegible] मम [illegible] कर [illegible] में [illegible] हुए।
[illegible] तक [illegible] गात [illegible] निराहार उपवास किये,
[illegible] गोमटेश [illegible] मम मन में [illegible] वास किये ॥८॥

- दोहा -

[illegible] गुरु ने किया प्राकृत में गुण-गान,
[illegible] भव किया भाषा-मय सुख खान ॥१॥

[illegible] के चरण में नत हो बारंबार,
[illegible] फिर बनूँ भवसागर कर पार ॥२॥

॥ इति शुभं भूयात् ॥

कल्याण मंदिर स्तोत्र

मूल : कल्याण मंदिर स्तोत्र (संस्कृत)

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

कल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

ाण-खाण-अघनाशक औ उदार,
हैं जो जिनेश-पद-नीरज विश्वसार ।
संसारवार्धि वर पोत ! स्ववक्षधार,
उन्हें यहां नमन मैं कर बार-बार ॥१॥

रे ! रे ! हुवा स्तवन ना जिनदेव जी का,
धीमान से जब वृहस्पति से प्रभू का ।
तो मैं उसे हि करने हत जा रहा हूं,
क्यों धृष्टता अहमता दिखला रहा हूं ॥२॥

मेरे समान लघु-धी कवि लोग सारे,
सामान्य से तव सुवर्णन भी विचारे ।
कैसे करे अहह ! नाथ ! नहीं करेंगे,
उल्लू दिवान्ध रवि को न यथा लखेंगे ॥३॥

है आपको विगतमोह मनुष्य जाना,
भो ! किन्तु जो तव गुणों उसने गिनाना ।
तूफान से जलविहीन समुद्र हो तो,
वार्धिस्थ रत्नचय का अनुमान है क्या ? ॥४॥

मैं स्तोत्र को तव विभो ! करने चला हूं,
हैं आप नैक-गुणधाम, व मन्द-धी हूं ।
तो बाल भी जलधि की सुविशालता को,
फैला स्वहस्त युग को कहता नहीं क्या ? ॥५॥

गाये गये तव न भो ! गुण योगियों से,
मेरा प्रवेश उनमें फिर हन्त कैसे ?
है हो गई इक यहां स्थिति जो अनोखी,
गाते स्व वाणि बल से फिर भीं विहंग ॥६॥

जो स्तोत्र हे ! जिन ! सुदूर रहे महात्मा !,
तेरा हि नाम जग को दुःख से बचाता ।
संतप्त भी पथिक जो रवि ताप से यों,
होता सुशान्त जलमिश्रित वायु से है ॥७॥

होते हि वास तव भव्य सुचित्त में त्यों,
होते प्रभो शिथिल हैं घनकर्मबन्ध ।
आते हि चन्दन सुवृक्ष-समीप मोर ;
हैं लांघते सकल क्यों अहि एक ओर ॥८॥

हो देखते अट जिनेन्द्र ! तुझे मनुष्य,
होते सुदूर सहसा दुःख से अवश्य ।
गंभीर शूर वसुधा पति को यहां जो,
हैं चोर देख सहसा द्रुत भागते यों ॥९॥

कैसे जिनेश तुम तारक हो जनों के,
जो आपको हृदय से धर, पार होते ।
वा चर्मपात्र जल में निरता परन्तु,
पात्रस्थ वायु बल है उस कर्म में ही ॥१०॥

ब्रह्मा महेश मद को नहिं जीत पाये,
भो ! आप किन्तु उसको क्षण में जलाये ।
है ठीक ! अग्नि बुझती जल से यहाँ पे,
पीया गया न जल क्या ? बड़वाग्नि से पै ॥११॥

स्वामी ! महान गरिमायुत आपको वे,
संसारि जीव गह, धार स्व-वक्ष में औ ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते,
आश्चर्य ! साधु जन की महिमाअचिन्त्य ॥१२॥

ध नष्ट पहले जब की बता दो,
र तुमसे फिर बाद कैसे ?
हरित पूरित भूरुहों को,
प क्या ? न यहां जलाता ॥१३॥

नरूप ! तुमको जिन ! ढूंढ़ते हैं,
योगी सदा हृदय नीरज कोश में वे ।
है ठीक ही, कमल बीज प्रसूतस्थान,
अन्यत्र क्या मिलत है ? तजकर्णिका को ॥१४॥

छद्मस्थ जीव तव देव ! सुध्यान से ही,
यों शीघ्र देह तज वे परमात्म होते ।
पाषाण जो कनक मिश्रित ईश ! जैसा,
संयोग पा अनल का द्रुत हेम होता ॥१५॥

भो नित्य भव्य उर में जिन ! शोभते हो,
कैसे सुनाश करते ? उस काय को क्यों ?
ऐसा स्वभाव रहता समभावियों का,
जो है महापुरुष विग्रह को नशाते ॥१६॥

जो आपको जिन ! अभेद विचार से है,
आत्मा सुध्यान करता, तुम-सा हि होता ।
जो नीर को अमृत मान, उसे हि पीता,
क्या नीर जो न उसके विष को नशाता ? ॥१७॥

हे वीतराग ! तुमको परवादि लोग,
ब्रह्मा-महेश-हरि रूप वि जानते हैं ।
है ठीक काचकमलामय रोग वाले,
क्या शंख को विविध वर्णमयी न जानें ? ॥१८॥

धर्मोपदेश जब हो जन दूर होवे,
सानिध्य से हि तब, वृक्ष अशोक होते ।
है भानु के उदय से जन मोद पाते,
उत्फुल्ल क्या तरु-लता दल हो न पाते ॥१९॥

वर्षा यहां सुमन की करते हि देव,
आश्चर्य ! वे कुसुम सर्व अधोमुखी क्यों ?
हे ठीक ही, सुमन बंध सभी हि जाते,
नीचे मुनीश ! तुमको लख के सदैव ॥२०॥

गंभीर वक्ष जलराशि विनिर्गता जो,
हे भारती, तव उसे करते सुपान ।
हैं भव्य, जीव फलतः मुदमोद होते ;
औ शीघ्र ही जनन मृत्युविहीन होते ? ॥२१॥

स्वामी मनो ! नम सुभक्ति सुभाव से ज्यों,
स्वर्गीय चामर कलाप हि बोलता है ।
जो भी करें नमन साधु वराग्र को भी !
होगा हि निर्मल तथा यह ऊर्ध्वगामी ॥२२॥

गंभीर भारत विधारक आपको त्यों,
भो श्याम ! हेममणिनिर्मित आसनस्थ !
भामोद से निरखते सब भव्य मोर,
स्वामी ! सुमेरु पर मोर पयोद को ज्यों ॥२३॥

भो ! आपके हि शित मण्डल ज्योति से जो,
देखो हुवा छबि विहीन अशोक वृक्ष ।
सानिध्य से फिर विभो तब वीतराग !
क्या भव्य चेतन न रागविहीन होते ? ॥२४॥

ये आपके अमर दुन्दुभि हैं बताते,
आके करो अलस छोड़ जिनेन्द्र सेवा ।
जो आप हैं वह शिवालय सार्थवाह,
इत्थं विचार मम है अरु ठीक भी है ॥२५॥

जाज्वल्यमान तुमसे त्रय लोक देख,
नष्टाधिकार वह चन्द्र हताश होके ।
यों तीन छत्र मिष से तुम पास आके,
सेवा प्रभो शशि यहां करता हि तेरी ॥२६॥

संपत्ति से भरितलोक समान आप,
कान्ति प्रताप यश का अरु हैं सुधाम ।
हेमाद्रि दिव्य गणि निर्मित साल से ज्यों,
शोभायमान भगवन इह हो रहे हैं ॥२७॥

देवेन्द्र की जिन ! यहां नमते हुए की,
माला, सुमोच मणिमंडित मौलियों की ।
लेती सुआश्रय सदा तव पाद का है,
अन्यत्र ना सुमन वासव, ठीक भी है ॥२८॥

हैं नाथ ! आप भववारिधि से सुदूर,
तो भी स्वसेवक जनाऽऽकर को तिराते ।
है आपको उचित पार्थिव भूप सा भी,
आश्चर्य कर्मफल शून्य तथापि आपि ॥२९॥

त्रैलोक्यनाथ जिन हैं ! धनहीन भी हैं !
हैं आप अक्षर विभो ! लिपिहीन भी हैं ।
ना आप में करण बोध शतांश में भी,
विज्ञान है विशद किन्तु जगप्रकाशी ॥३०॥

धूली अहो कमठ ने नभ में उड़ा दी,
तो भी ढकी तव विभो ! उससे न छाया ।
देखो ! जिनेश वह ही फलतः दुरात्मा,
धिक् धिक् महान दुःख को बहुकाल पाया ॥३१॥

भो ! दैत्य से कमठ से घनघोर वर्षा,
अश्राव्य गर्जनमयी तुमपे हुई भी ।
पै आप पे असर तो उसका पड़ा ना,
पै दैत्य को नरक में रख पड़ा हि जाना ॥३२॥

धारे हुए सकल थे गतसन्त माना,
जो त्यागते अनल को मुख से निराला ।
भेजा कुदैत्य तव पास पिशाच ऐसे,
पै दैत्य के हि दुखकारण हो गए वे ॥३३॥

वे जीव धन्य महि में त्रयलोकनाथ !
प्रातः तथा च अपराह्नविभो ! सु सन्ध्या ।
उत्साह से मुदित हो वर भक्ति साथ,
शास्त्रानुकूल तव पाद सु पूजते हैं ॥३४॥

ना आप आज तक भी श्रुतिगम्य मेरे,
मानूं मुनीश ! भववारिधि में हि ऐसा ।
आ जाय मात्र सुनने तव नाम मन्त्र,
आता समीप फिर भी विपदा फणी क्या ? ॥३५॥

तेरी न पादयुग पूजन पूर्व में की,
जो हैं यहां सुखद ईप्सित-वस्तु-दाता ।
ऐसे विचार मम है फलतः मुनीश ।
देखो हुवा अब अनादर पात्र में हूं ॥३६॥

मोहान्धकार सुतिरोहित लोचनों से,
देखा न पूर्व तुमको जिन ! एक बार ।
ऐसा न हो यदि विभो ! मुझ को बतादो ;
क्यों पाप कर्म दिन रैन मुझे सताते ॥३७॥

देखे गये श्रवणगम्य हुवे व पूजे ;
पै भक्ति से न चित में तुमको बिठाया ।
हूं दुःख भाजन हुवा फलतः जिनेश !
रे ! भावहीन करणी सुख को न देती ॥३८॥

संसार-त्रस्त-जन-वत्सल औ शरण्य,
हे नाथ ! ईश्वर ! दया-वर-पुण्य-धाम !
हूं भक्ति से नत, दया मुझ में दिखा के ;
उद्युक्त हो दुरित अंकुर को जलाने ॥३९॥

हैं आप जीत वसुकर्म सुकीर्तिधारी,
पा, पाद कंज युग को यदि आपके मैं ।
स्वामी ! सुदूर निज चिंतन से रहूं तो ;
हूं भाग्यहीन, व मरा, अयि तात ! वन्द्य ॥४०॥

श्री पार्श्वनाथ ! भवतारक ! लोकनाथ !
सर्वज्ञदेव ! व विभो ! सुरनाथ वन्द्य !
रक्षा अहो ! मम करो, करुणासमुद्र ;
संसारत्रस्त मुझको, उस छोर भेजो ॥४१॥

पादारविन्द युग-भक्ति-सुपाक, कोई,
है तो यहां तव विभो भववार्धिपोत !
मेरे लिये इह तथा परजन्म में भी ;
हैं आप ही व शरणागत पाल स्वामी ॥४२॥

रोमांचितांगयुत जो तव भव्य जीव,
एकाग्र हो तव मुखांबुज में अली से ।
हैं स्त्रोत की सुरचना करते यहां पे ;
ऐसे यथाविधि जिनेन्द्र ! विभो ! शरण्य ॥४३॥

जननयन कुमुदचन्द्र !, परमस्वर्गीय भोग को भोग।
वे वसुकर्म नाशकर, पाते शीघ्र मोक्ष को लोग ॥४४॥

ग्रंथकार एवं गुरु स्मरण

सुरासुरों से है सेवित, पूजित जिनके पाद
'पूज्यपाद' को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार हैं मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर गहूँ, भवसागर का पार ॥२॥

नदीश्वर-भक्ति

(ज्ञानोदय-छन्द)

नग, नग, नग, नग नगवन्त जिनालय, नाश रहित हैं शाश्वत हैं
जिनग जिनागमिका से मण्डित, जन-बिम्ब हैं भास्वत हैं ।
गुप्ताति के मुकुटों की मणियाँ झिल-मिल, झिल-मिल करती हैं
जिनबिम्बों के चरण-कमल को धोती हैं, मन हरती हैं ॥१॥

सदा सदा से, सहज रूप से, शोभनीय, पावन छवि वाले;
रहें जिनालय धरती पर ये, श्रमणों की संस्कृति धारे ।
तीनों संध्याओं में इनको, तन से, मन से, वचनों से;
नमन करूँ धोऊँ अघ-रज को, छूटूँ भव-वन-भ्रमणों से ॥२॥

सियों के भवनों में, तथा जिनालय बने हुये;
क्ति से दमक रहे हैं, और तेज सब हने हुये ।
... संख्या जिन-आगम में, सात कोटि की मानी है;
साठ-लाख, दस-लाख और दो-लाख बताते ज्ञानी हैं ॥३॥

अगणित द्वीपों में अगणित हैं, अगणित गुण गण मण्डित हैं;
व्यंतर देवों से नियमित जो, पूजित संस्तुत वंदित हैं ।
त्रिभुवन के सब भविकजनों के, नयन मनोहर सुन प्यारे !
तीन-लोक के नाथ जिनेश्वर-मंदिर हैं शिव-पुर द्वारे ॥४॥

सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादिक, तारकदल गगनांगन में;
कौन गिने वह अनगित हैं ये, अनगिन जिनगृह हैं जिनमें ।
जिन का वन्दन प्रतिदिन करते, शिव-सुख के वे अभिलाषी;
दिव्य-देह ले देव-देवियाँ, ज्योतिर्मण्डल अधिवासी ॥५॥

नभ-नभ-स्वर-रस-केशव-सेना मद[1] हो सोलह कल्पों में;
आगे पीछे तीन बीच दो[2]-, शुभतर कल्पातीतों में ।
इस विध शाश्वत ऊर्ध्वलोक में, सुखकर ये जिन-धाम रहें;
अहो भाग्य हो नित्य निरन्तर, होठों पर जिन-नाम रहे ॥६॥

अलोक का फैलाव कहाँ तक, लोक कहाँ तक फैला है ?
जाने जो जिन हैं जय-भाजन, मिटा उन्हीं का फेरा है ।
कही उन्हीं ने मनुज-लोक के, चैत्यालय की गिनती है;
चार शतक अट्ठावन ऊपर, जिन में मन रम विनती है ॥७॥

आतम-मद-सेना-स्वर-केशव-अंग-रंग फिर याम[3] कहे;
ऊर्ध्व-मध्य औ अधोलोक में, यूँ सब मिल जिन-धाम रहे ॥८॥

१. नभ=०, नभ=०, स्वर-७, रस (षड्रस)-६, केशव (नारायण)-९, सेना (चतुरंगिनी)-४, मद-८ 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार ८४, ९६, ७००
२. ३२३ कुल=८४, ९६, ७००+३२३=८४, ९७, ०२३
३. आतम-१, मद-८, सेना-४, स्वर-७, केशव-९, अंग (षड्काय)-६, रंग-५, याम (प्रहर)-८ यानी कुल = ८५६९४८१

...गी ईश से निर्मित ना हैं, शाश्वत हैं स्वयमेव सदा;
...व्य भव्य जिन-मंदिर देखो, छोड़ो मन अहमेव मुधा ।
...नमें आर्हत, प्रतिभा मंडित प्रतिमा न्यारी प्यारी हैं;
...रासुरों से सुरपतियों से, पूजी जाती सारी हैं ॥९॥

...यक कुण्डलों कुलाचलों पर, क्रमशः चउ चउतीस रहें,
...क्षारांगिरि विजयार्द्धों पर, शत, शत सत्तर ईश कहें ।
...गिर-इषुकारों, उत्तर-गिरियों, कुरुओं में चउ, चउ, दश हैं;
...तीन-शतक छह-बीस जिनालय, गाते इनके हम यश हैं ॥१०॥

...द्वीप रहा जो अष्टम जिसने, "नन्दीश्वर" वर नाम धरा;
...नन्दीश्वर सागर से परिवृत, आप घिरा अभिराम खरा ।
...आप रम्य शोभन जिनके अतिशय-यश से बस ! दश दिशा खिलीं;
...भावित हो हुआ प्रभावित, इस ऋषि को भी दिशा मिली ॥११॥

...॥ द्वीप में चउ दिशियों में, चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं;
...एक एक अंजनागिरि संबंधित, चउ चउ दधिमुख गिरिवर हैं ।
...फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो दो रतिकर गिरि चर्चित हैं ;
...पावन, पावन गिरि पर, पावन जिनगृह हैं पूर्व अर्चित हैं ॥१२॥

...एक वर्ष में तीन बार शुभ, शाश्वतिक उत्सव आते;
...एक प्रथम आषाढ़ मास में, कार्तिक, फाल्गुन फिर आते ।
...इन मासों के शुक्ल पक्ष में, आठ दिवस अष्टम तिथि से ;
...रम्य बना दधिमुख द्वीप को, भुवन उतर सुर भक्ति से ॥१३॥

पूज्य द्वीप नन्दीश्वर जाकर, प्रथम जिनालय वन्दन ले;
प्रचुर पुष्प मणिदीप धूप ले, दिव्याक्षत ले चन्दन ले ।
अनुपम अद्भुत जिन-प्रतिमा की, जगकल्याणी गुरुपूजा;
भक्ति-भाव से करते हे मन ! पूजा में खोजा तू जा ॥१४॥

कार्यरत हुआ इन्द्र सौधर्म महा;
क्या वर्णन, भाव-भक्ति सो धर्म रहा ।
कार्य में, शेष इन्द्र जयगान करें;
ा ले, प्रसाद-गुण का पान करें ॥१५॥

मंगल-कलशादिक लेकर सर पै;
शोभा और बढ़ातीं, गुणवन्ती इस अवसर पै ।
छां-छुम, छां-छुम नाच नाचतीं, सुर-नटियाँ हैं सस्मित हो;
सुनो ! शेष अनिमेष सुरासुर, दृश्य देखते विस्मित हो ॥१६॥

वैभवशाली सुरपतियों के, भावों का परिणाम रहा;
पूजन का यह सुखद-महोत्सव, दृश्य बना अभिराम रहा ।
इसके वर्णन करने में जब, सुनो ! बृहस्पति विफल रहा;
मानव में फिर शक्ति कहाँ वह ? वर्णन करने मचल रहा ॥१७॥

जिन-पूजन-अभिषेक पूर्णकर, अक्षत केसर चन्दन से;
बाहर आये देव दिख रहे, रँगे-रँगे से तन-मन से ।
तथा दे रहे प्रदक्षिणा हैं, नन्दीश्वर जिनभवनों की;
पूज्य-पर्व को पूर्ण मनाते, स्तुति करते जिन-श्रमणों की ॥१८॥

सुनो ! वहाँ से मनुज-लोक में, सब मिलकर सुर आते हैं;
जहाँ पाँच शुभ मंदर-गिरि हैं, शाश्वत चिर से भाते हैं ।
भद्रशाल, नन्दन, सुमनस औ, पांडुक वन ये चार जहाँ-
प्रति मंदर पर रहे, तथा प्रति-वन में जिनगृह चार महा ॥१९॥

मन्दर पर भी प्रदक्षिणा दे, करें जिनालय वन्दन हैं;
जिन-पूजन-अभिषेक तथा कर, करें शुभाशय नन्दन हैं ।
सुखद पुण्य का वेतन लेकर, जो इस उत्सव का फल है;
जाते निज-निज स्वर्गों को सुर, यहाँ धर्म ही सम्बल है ॥२०॥

तरह तरह के तोरण-द्वारे, दिव्य-वेदिका और रहें;
मानस्तम्भों याग-वृक्ष और उपवन चारों ओर रहें ।
तीन तीन प्राकार बने हैं, विशाल मण्डप ताने हैं;
ध्वजा-पंक्ति का दर्शक लसे चउ-गोपुर गाते गाने हैं ॥२१॥

देख सकें अभिषेक बैठकर, धाम बने नाटक गृह हैं;
जहाँ सदन संगीत-साध के, क्रीड़ागृह कौतुकगृह हैं ।
सहज बनीं इन कृतियों को लख, शिल्पी होते अविकल्पी;
समझदार भी नहीं समझते, सूझ-बुझ सब हो चुप्पी ॥२२॥

थाली सी हैं गोल वापिका, पुष्कर हैं चउ-कोन रहें;
भरे लबालब जल से इतने, कितने गहरे कौन कहे ?
पूर्ण खिले हैं महक रहे हैं, जिन में बहुविध कमल लसें;
शरद-काल में जिस विध नभ में, शशि-ग्रह-तारक विपुल लसें ॥२३॥

झारी-लोटे-घट-कलशादिक, उपकरणों की कमी नहीं;
प्रति जिनगृह में शत-वसु, शत-वसु, शाश्वत मिटते कभी नहीं ।
वर्णाकृति भी निरी-निरी है, जिन की छवि प्रति-छवि भाती;
नहीं पीलगी डान डान, डान डान बनती रहती ध्यान भाती ॥२४॥

रत्नमयी ये जिन मंदिर सब, युगों युगों से शोभित हैं;
गर्भ कुटी में सिंहासन भी, सुन्दर सुन्दर द्योतित हैं ।
नाना दुर्लभ वैभव से ये, परिपूरित हैं रचित हुये;
सुनो ! यहीं त्रिभुवन के वैभव, जिन पद में आ प्रणत हुये ॥२५॥

इन जिन-भवनों में जिन-प्रतिमा, ये हैं पद्मासन वाली;
धनुष पंच-शत प्रमाणवाली, प्रति प्रतिमा, शुभ छवि वाली ।
कोटि, कोटि दिनकर आभा तक, मन्द-मन्द पड़ जाती है;
कनक रजत मणि निर्मित सारी, झग-झग, झग-झग भाती है ॥२६॥

दिशा-दिशा में अतिशय शोभा, महा तेज यश धार रहें;
पाप-मात्र के भंजक हैं ये, भव-सागर के पार रहें ।
और, और फिर भानुतुल्य इन, जिन-भवनों को नमन करूँ;
स्वरूप इनका कहा न जाता, मात्र मौन हो नमन करूँ ॥२७॥

धर्म-क्षेत्र ये एक शतक औ, सत्तर हैं षट्-कर्म जहाँ;
धर्म-चक्र-धर तीर्थकरों से, दर्शित है जिन-धर्म यहाँ ।
हुये, हो रहे, होंगे उन सब, तीर्थकरों को नमन करूँ;
भाव यही है 'ज्ञानोदय' में, रमण करूँ भव-भ्रमण हरूँ ॥२८॥

इस अवसर्पिणि में इस भूपर, वृषभ-नाथ अवतार लिया;
भर्ता बन युग का पालन कर, धर्म-तीर्थ का भार लिया ।
अन्त-अन्त में अष्टापद पर, तप का उप-संहार किया;
पाप-मुक्त हो मुक्ति सम्पदा प्राप्त किया उपहार, जिया ! ॥२९॥

बारहवें-जिन वासुपूज्य हैं, परम पुण्य के पुंज हुये;
पाँचों कल्याणों में जिनको, सुरपति पूजक, पूज गये ।
चंपापुर में पूर्ण रूप से, कर्मों पर बहु मार किये;
परमोत्तम पद प्राप्त किये औ, विपदाओं के पार गये ॥३०॥

प्रमुदित मति के राम-श्याम[1] से, नेमिनाथ जिन पूजित हैं;
कषाय-रिपु को जीत लिये हैं, प्रशम-भाव से पूरित हैं ।
ऊर्जयन्त गिरनार शिखर पर, जाकर योगातीत हुये;
त्रिभुवन के फिर चूड़ामणि हो, मुक्ति वधू के प्रीत हुये ॥३१॥

वीर' दिगम्बर श्रमण गुणों को, पाल बने पूरण ज्ञानी;
मेघ-नाद सम दिव्य-नाद से, जगा दिया जग, सद्ध्यानी ।
'पावापुर', वर सरोवरों के, मध्य तपों में लीन हुये;
विधि गुण विगलित कर अगणित गुण, शिव पद पा स्वाधीन हुये ॥३२॥

१. बलराम-कृष्ण

जिसके चारों ओर वनों में, मद वाले गज बहु रहते;
'सम्मेदाचल' पूज्य वही है, पूजो इसको गुरु कहते ।
शेष रहें 'जिन बीस-तीर्थकर, इसी अचल पर अचल हुये;
अतिशय यश को, शाश्वत सुख को, पाने में वे सफल हुये ॥३३॥

मूक तथा उपसर्ग अन्तकृत, अनेक विध केवल ज्ञानी;
हुये विगत में यति मुनि गणधर, कु-सुमत ज्ञानी विज्ञानी ।
गिरि वन तरुओं गुफा कंदरों, सरिता सागर तीरों में;
तप साधन कर मोक्ष पधारें, अनल शिखा मरु टीलों में ॥३४॥

मोक्ष साध्य के हेतुभूत ये, स्थान रहें पावन-सारे;
सुरपतियों से पूजित हैं सो, इन की रज शिर पर धारें ।
तपो भूमि ये, पुण्य क्षेत्र ये, तीर्थ क्षेत्र ये अघहारी;
धर्म-कार्य में लगे हुए हम, सब के हों मंगलकारी ॥३५॥

दोष रहित हैं, विजितमना हैं, जग में जितने जिनवर हैं;
जितनी जिनवर की प्रतिमायें, तथा जिनालय मनहर हैं ।
समाधि साधित भूमि, जहाँ मुनि-साधक के हो चरण परें;
हेतु बने ये भविक-जनों के, भव-लय में, हम चरण पड़ें ॥३६॥

उत्तम यश-धर जिनपतियों का, स्तोत्र पढ़े निज-भावों में;
तन से, मन से, और वचन से, तीनों सन्ध्या कालों में ।
श्रुतसागर के पार गये उन, मुनियों से जो संस्तुत हैं;
यथा शीघ्र वह अमित पूर्ण पद, पाता सम्मुख-प्रस्तुत है ॥३७॥

मल मूत्रों का कभी न होना, रुधिर क्षीर-सम श्वेत रहे;
सर्वांगों में सामुद्रिकता, सदा सदा ना स्वेद रहे ।
रूप सलोना सुरभित होना, तन-मन में शुभ लक्षणता;
हित-मित-मिश्री मिश्रितवाणी, सुन लो ! और विलक्षणता ॥३८॥

अतुल-वीर्य का सम्बल होना, प्राप्त आद्य संहननपना,
ज्ञात तुम्हें हो ख्याल रहे हैं, स्वतिशय दश ये गुणनपना ।
जन्म-काल से मरण-काल तक, ये दश अतिशय, 'सुनते हैं',
तीर्थकरों के तन में मिलते, अमितगुणों को गुनते हैं ॥३९॥

कोश चार शत सुभिक्षिता हो, अधर गगन में गमन सही;
चउ विध कवलाहार नहीं हो, किसी जीव का हनन नहीं ।
केवलता या श्रुतकारकता, उपसर्गों का नाम नहीं;
चतुर्मुखी का होना, तन की छाया का भी काम नहीं ॥४०॥

बिना बढे वह सुचारता से, नख केशों का रह जाना;
दोनों नयनों के पलकों का, स्पंदन ही चिर मिट जाना ।
घाति-कर्म के क्षय के कारण, अर्हन्तों में होते हैं;
ये दश अतिशय इन्हें देख बुध, पल भर सुध-बुध खोते हैं ॥४१॥

अर्ध-मागधी भाषा सुख की, सहज समझ में आती है;
समवशरण में सब जीवों में, मैत्री घुल-मिल जाती है ।
एक साथ सब ऋतुयें फलतीं, ''क्रम'' के सब पथ रुक जाते;
लघुतर गुरुतर बहुतर तरुवर, फूल फलों के झुक जाते ॥४२॥

दर्पण-सम शुचि रत्नमयी हो, झग-झग करती धरती है;
सुरपति नरपति यतिपतियों के, जन-जन के मन हरती है ।
जिनवर का जब विहार होता, पवन सदा अनुकूल बहे;
जन-जन परमानन्द गन्ध में, डूबे दुख-सुख भूल रहे ॥४३॥

संकटदा विषकंटक कीटों, कंकर तिनकों शूलों से;
रहित बनाता पथ को गुरुतर-उपलों से अतिधूलों से ।
योजन तक भूतल को समतल, करता बहता वह साता;
मन्द मन्द मकरन्द गन्ध से, पवन मही को महकाता ॥४४॥

तुरत इन्द्र की आज्ञा से बस, नभ मण्डल में छा जाते,
सघन-मेघ के कुमार, गर्जन करते बिजली चमकाते ।
रिम-झिम रिम-झिम गन्धोदक की, वर्षा होती हर्षाती-
जिस सौरभ से सब की नासा, सुर-सुर करती दर्शाती ॥४५॥

आगे-पीछे सात-सात, इक पदतल में तीर्थंकर के;
पंक्ति-बद्ध यों अष्ट-दिशाओं, और उन्हीं के अन्तर में ।
पद्म बिछाते सुर माणिक-सम, केशर से जो भरे हुये,
अतुल परस है सुखकर जिनका, स्वर्ण दलों से खिले हुये ॥४६॥

पकी फसल ले शाली आदिक, धरती पर सर धरती है;
सुन लो फलतः रोम-रोम से, रोमांचित सी धरती है ।
ऐसी लगती त्रिभुवनपति के, वैभव को ही निरख रही;
और स्वयं को भाग्यशालिनी, कहती-कहती हरख रही ॥४७॥

शरदकाल में विमल सलिल से, सरवर जिस विध लसता है;
बादल-दल से रहित हुआ नभ-मण्डल उस विध हँसता है ।
दशों दिशायें धूम्र-धूलियाँ, शामभाव को तजती हैं;
सहज रूप से निरावरणता, उज्ज्वलता को भजती है ॥४८॥

इन्द्राजा में चलने वाले, देव चतुर्विध वे सारे;
भावुकजनों को सदा सुनाते, समवशरण में उजियारे ।
उच्चस्वरों में दे दे करके, आमंत्रण की ध्वनि ''ओ जी !'';
''देवों के भी देव यहाँ हैं,'' शीघ्र पधारो आओ जी ! ॥४९॥

जिसने धारे हजार आरे, स्फुरण-शील, मन हरता है;
उज्ज्वल मौलिक मणि-किरणों से, झर-झुर झर-झुर करता है ।
जिसके आगे तेज भानु भी, अपनी आभा खोता है;
आगे-आगे सबसे आगे, धर्म-चक्र वह होता है ॥५०॥

वैभवशाली होकर भी ये, इन्द्र-लोग सब सीधे हैं;
धर्म-राग से रंगे हुये हैं, भाव भक्ति में भीगे हैं ।
इन्हीं जनों से इस विध अनुपम, अतिशय चौदह किये गये;
वसुविध मंगल पात्रादिक भी, समवशरण में लिये गये ॥५१॥

नील-नील वैडूर्य दीप्ति से, जिसकी शाखायें भाती;
लाल-लाल मृदु प्रवालआभा, जिनमें शोभा औ लाती ।
मरकत मणि के पत्र बने हैं, जिसकी छाया शाम घनी;
अशोक तरु यह अहो शोभता, यहाँ शोक की शाम नहीं ॥५२॥

पुष्प वृष्टि हो नभ से जिसमें, पुष्प अलौकिक विपुल मिले;
नील-कमल हैं लाल-धवल हैं, कुंद बहुल हैं बकुल खुले ।
गन्धदार मन्दार मालती, पारिजात मकरंद झरे;
जिन पर अलिगण "गुन-गुन" गाते, निशिगन्धा अरविन्द खिले ॥५३॥

जिनकी कटि में कनक करधनी, कलाइयों में कनक कड़े;
हीरक के केयूर हार हैं, पुष्ट कण्ठ में दमक पड़े ।
सालंकृत दो यक्ष खडे जिन-कर्णों में कुण्डल डोले,
चमर ढुराते हौले-हौले, प्रभु की जो जय-जय बोले ॥५४॥

यहाँ यकायक घटित हुआ जो, कोई सकता बता नहीं;
दिवस रात का भला भेद वह, कहाँ गया कुछ पता नहीं ।
दूर हुये व्यवधान हजारों-रवियों के वह आप कहीं ।
भामण्डल की यह सब महिमा, आँखों को कुछ ताप नहीं ॥५५॥

प्रबल पवन का घात हुआ जो, विचलित होकर तुरत मथा;
हर-हर, हर-हर सागर करता, हर मन हरता मुदित यथा ।
वीणा, मुरली, दुम-दुम दुंदुभि, ताल-ताल करताल तथा ।
कोटि-कोटि यों वाद्य बज रहे, समवशरण में सार कथा ॥५६॥

महादीर्घ वैडूर्य रत्न का, बना दण्ड है, जिस पर हैं;
तीन चन्द्र-सम तीन-छत्र ये, गुरु-लघु-लघुतम ऊपर हैं ।
तीन भुवन के स्वामीपन की, स्थिति जिससे अति प्रकट रही;
सुन्दरतम हैं, मुक्ताफल की, लड़ियाँ जिस पर लटक रहीं ॥५७॥

जिनवर की गम्भीर भारती, श्रोताओं के दिल हरती;
योजन तक जो सुनी जा रही, अनुगुंजित हो नभ धरती ।
जैसे जल से भरे मेघ-दल, नभ-मण्डल में डोल रहे;
ध्वनि में डूबे दिगंतरों में, घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे ॥५८॥

रंग-विरंगी मणि-किरणों से, इन्द्रधनुष की सुषमा ले;
शोभित होता अनुपम जिस पर, ईश विराजे गरिमा ले ।
सिंहों में वर बहु सिंहों ने, निजी पीठ पर लिया जिसे;
स्फटिक शिला का बना हुआ है, सिंहासन है जिया ! लसे ॥५९॥

अतिशयगुण-चउतीस रहें ये, जिस जीवन में प्राप्त हुये;
प्रातिहार्य का वसुविध वैभव, जिन्हें प्राप्त है, आप्त हुये ।
त्रिभुवन के वे परमेश्वर हैं, महागुणी भगवन्त रहे;
नमूँ उन्हें, अरहन्त-सन्त हैं, सदा-सदा जयवन्त रहें ॥६०॥

अञ्चलिका

नन्दीश्वर वर-भक्ति का, करके कायोत्सर्ग ।
आलोचन उसका करूँ, हे प्रभु ! तव संसर्ग ॥१॥

नन्दीश्वर के चउ-दिशियों मे, चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं,
इक-इक अंजनगिरि सम्बन्धित, चउ-चउ दधिमुख गिरिवर हैं ।
फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो-दो रतिकर गिरि चर्चित हैं;
पावन, बावनगिरि पर बावन, जिनगृह हैं, सुर अर्चित हैं ॥२॥

देव चतुर्विध कुटुम्ब ले सब, इसी द्वीप में हैं आते ;
कार्तिक-फागुन-आषाढ़ो के, अंतिम वसु-दिन जब आते ।
शाश्वत जिनगृह जिन-बिम्बों से, मोहित होते बस ! तातैं ;
तीनों अष्टाह्निक-पर्वों में, यहीं आठ-दिन बस जाते ॥३॥

दिव्य-गन्ध ले, दिव्य ले, दिव्य-दिव्य ले सुमन तथा ;
दिव्य चूर्ण ले, दिव्य न्हवन ले, दिव्य-दिव्य ले वसन तथा ।
अर्चन, पूजन, वन्दन, करते, नियमित करते नमन सभी;
नन्दीश्वर का पर्व मनाकर, करते निजघर गमन सभी ॥४॥

मैं भी उन सब जिनालयों का, भरत-खण्ड में रहकर भी;
अर्चन-पूजन-वन्दन करता, प्रणाम करता झुककर ही ।
कष्टदूर हो, कर्मचूर हो, बोधिलाभ हो, सद्गति हो;
वीर-मरण हो, जिनपद मुझको, मिले सामने सन्मति ओ ! ॥५॥

पद्यानुवाद रचना काल एवं स्थान परिचय

सतत सतपुड़ा कह रहा, असत त्याग, सत-धार ।
मुक्तागिरि आ देख लो, दिखता शिरपुर द्वार ॥१॥

गमन चूँमते शिखर हैं, रहें एक से एक ।
युवा-मेघ ही जल भरे, करते हैं अभिषेक ॥२॥

रवि के व्रत दो, प्रथम तो - प्रतिदिन उठे प्रभात ।
मुक्तागिरि का दर्श ले, फिर यात्रा की बात ॥३॥

मुक्तागिरि पर मुक्त मुनि, साढ़े तीन करोड़ ।
मुक्तागिरि को नित नमूँ, नत-शिर हो कर-जोड़ ॥४॥

ऋषि-आतम-रस-गन्ध[1] की, श्वेत-पंचमी जेठ ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, पढो-सुनो भरपेट ॥५॥

१. ऋषि-७, आतम-१, रस-५, गन्ध-२, "अंकानां वामतो गतिः" के अनुसार वीर निर्वाण संवत २५१७ (सन १९९१ ईस्वी) की ज्येष्ठ सुदी पंचमी तिथि 'श्रुतपंचमी' विक्रम संवत २०४८, रविवार, १६ जून १९९१ ई. को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि (मेढ़ागिरि) बैतूल, (म.प्र.) में श्री आचार्य पूज्यपाद कृत "नन्दीश्वर भक्ति" का यह पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।

ग्रन्थकार एवं गुरु स्मरण

सतपुड़ा से हैं सदा, पावित जिनके पाद ।
पूज्यपाद को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार हैं, मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर, गहूँ भवसागर का पार ॥२॥

समाधिसुधा शतकम्

मूल : समाधितंत्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

समाधिसुधा शतकम्

(वसन्ततिलका छन्द)

जो जानते अपरको अपरात्म रूप,
औ आत्मको सतत वे सब आत्मरूप ।
स्वामी ! अमेय अविनश्वर बोध धाम,
हो बार बार उन सिद्धन को प्रणाम ॥१॥

सम्माननीय जिनकी वह भारती है
अत्यन्त तीर्थ-कर संपति शोभती है
धाता, महेश, शिव, सौगत नामधारी
बंदू उन्हें जिनप जो जग आर्त-हारी ॥२॥

शास्त्रानुसार निज बोध-बलानुसार,
एकाग्र चित्तकर युक्तिमतानुसार ।
शुद्धात्म-तत्त्व उनको कहता यहाँ मैं,
जो चाहते सहज सौख्य प्रभो ! सदा है ॥३॥

आत्मा यही त्रिविध है सब देहियों में,
आदेय है परम आतम पे सबों में ।
तो अन्तरात्म शिवदायक है उपेय,
धिक्कार ! हाय ! बहिरातम निंद्य हेय ॥४॥

मेरा शरीर, धन औ सुत राजधानी,
ऐसा सदैव कहता बहिरात्म प्राणी ।
रागादि से रहित हा वह अन्तरात्मा,
है वंद्य, पूज्य, परमातम, निर्मलात्मा ॥५॥

जो बुद्ध, शुद्ध जिनके न शरीर साथ,
अत्यन्त इष्ट जिन ईश्वर विश्वनाथ ।
है सिद्ध, अव्यय तथा वसु-कर्म रिक्त,
है पूजनीय परमातम पूर्ण व्यक्त ॥६॥

जो है यहाँ सतत इन्द्रिय-भोगलीन,
निर्भ्रांत नित्य बहिरात्म स्वबोध हीन ।
है देह को इसलिए वह आत्म मान,
संसार में दुख सदा सहता महान ॥७॥

धिक्कार ! मानव-तन-स्थित आत्म को ही,
हैं मानते मनुज रूप सदा विमोही ।
तिर्यंच देह अरु देव शरीर पाते,
तिर्यंच, देव क्रमशः निज को जनाते ॥८॥

लेते जहाँ नरक में जब जन्म भी है,
तो मानते स्वयम् को तब नारकी है ।
आत्मा प्रभो ! परम निश्चय से न ऐसा
विज्ञान पूर्ण, निजगम्य अहो ! हमेशा ॥९॥

जो पुद्गलात्मक तथा पर देह को ही,
स्वामी ! निजीय तन सादृश जान मोही ।
है मानता भ्रमित हो यह 'अन्य आत्मा'
प्रायः अतः दुरित ही करता दुरात्मा ॥१०॥

जो आत्मबोध परिशून्य सदा रहा है,
शोषित से मुदित तोषित हो रहा है ।
मेरी यही मृगदृगी ललना यहाँ है,
ऐसा विचार उसका भ्रम-पूर्ण, हा ! है ॥११॥

मिथ्यात्व-जन्य उसकी इस भावना से
ज्ञान तीव्र बढ़ता, सुख हो कहाँ से, ?
देह को 'निज' सदा वह मानता है ।
आ ! आत्म को वह कदापि न जानता है ॥१२॥

मिथ्यात्व भाव वश हो वह मूढ़ जीव,
है आत्म-बुद्धि रखता तन में सदीव ।
माता, पिता, सुत, सुता वनिता व भ्राता,
ये हैं यहाँ 'मम' सभी इस भाँति गाता ॥१३॥

आभूषणादिक जड़ात्मक नश्यमान,
मोही इन्हें स्वयम् के सुख हेतु मान ।
उत्कृष्ट स्वीय मणि को वह व्यर्थ खोता,
लो ! काँच में रम रहा, दुख बीज बोता ॥१४॥

संसार का प्रथम कारण देह-नेह
है रुद्ध हाय ! जिससे यह बोध गेह ।
व्यापार-त्याग द्रुत इन्द्रिय-ग्राम का रे,
हो आत्म में रत अतः यदि लोग सारे ॥१५॥

मैंने स्वभाव तज के निज भोग लीन,
संसार में दुख सहा, वृष-बोध हीन ।
मैं 'आत्म' हूँ न पहले इस भाँति जाना,
पै सर्वथा विषय को सुख हेतु माना ॥१६॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता नितान्त उसका वह योग चंगा ।
उत्कृष्ट आतम प्रकाशक योग-दीप
धारो इसे, शिव लसे, फलतः समीप ॥१७॥

जो भी मुझे नयन गोचर हो रहा है,
ना जानता वह कभी जड़ तो रहा है ।
जो जानता वह न इन्द्रियगम्य आत्मा,
बोले तदा किसलिए किस संग आत्मा ॥१८॥

मैं योग्य शिष्य दल को नित हूँ पढ़ाता,
या ज्ञान को सुगुरु से सहसा बढ़ाता ।
उन्मत्त-सी यह यहाँ मम मात्र चेष्टा,
मैं निर्विकल्प, मम निश्चय से न चेष्टा ॥१९॥

चैतन्य को पर कभी तजता नहीं है,
अग्राह्य को ग्रहण भी करता नहीं है ।
जो जानता निखिल को निज ज्ञान से ही,
विज्ञान पूर्ण वह 'चेतन जीव 'मैं' ही' ॥२०॥

स्वामी ! सुदूर स्थित नीरस वृक्ष में ओ ;
जैसा सदा पुरुष का अनुमान जो हो ।
मिथ्यात्व के उदय से जड़ देह को ही
'आत्मा' पुरा भ्रमित हो समझा प्रमोही ॥२१॥

पश्चात उसे निकट जा लख शुष्क ठूंठ,
ज्यों त्यागता वह उसे द्रुत मान झूठ ।
त्यों छोड़ता वितथ मान तनादिकों को,
निस्सार हेय पर जो दुख कारकों को ॥२२॥

ना मैं नपुंसक नहीं नर दीन स्त्री न,
दो भी न एक न अनेक तथा न तीन ।
मैं हूँ निजात्म बल से जब स्वात्म ध्याता,
इत्थं तदा न मुझमें कुछ भेद नाता ! ॥२३॥

शुद्धात्म-ध्यान बिन खेद ! अनादि सोया,
पाके उसे जग गया, बहु दुःखाऽऽ खोया ।
आनन्द जो मिल गया, निज-गम्य, रम्य,
स्वामी ! अतीन्द्रिय अपूर्ण न शब्द-गम्य ॥२४॥

देखूं यदा परम ह्रद्य निजात्म को मैं,
रागादि भाव दुखदा द्रुत नष्ट होते ।
होती भयानक तदा न सुतेज्जवाज आग,
प्यारी नहीं कुसुम की लगती पराग ॥२५॥

ब्रह्मांड ही जब मुझे नहिं जानता है,
क्या शत्रु-मित्र वह हो सकता तदा है ।
या जानता यदि मुझे लखता तथा है,
तो भी न मित्र रिपु हो सकता अहा ! ऐं !! है ॥२६॥

शीघ्रातिशीघ्र बहिरात्म-पना विसार,
औ अंतरात्म-पन की रुचि संग धार ।
संकल्प, जल्प व विकल्प-विहीन भी हो,
पश्चात् सुपूज्य परमेश्वर रूप पाओ ॥२७॥

साधू सदैव, वह तो निज आत्म ध्याता,
सोऽहं, विशुद्ध, जिन हूँ रट यों लगाता ।
होता निवास निज में इस धारणा से,
क्यों रोष तोष तब हो, दुख हो कहाँ से ?! ? ॥२८॥

नादान, दीन, मतिहीन, स्वबोधऽऽबोध-हीन,
विश्वास धार जड़ में सुखमान तल्लीन ।
है मान्यता यह अतः वह दुःख सुख धाम,
तो आत्म-ध्यान घर है, सुख का ललाम ॥२९॥

निश्चिन्त हो निडर, निश्चल अन्तरात्मा,
व्यापार रोक करणावलिका महात्मा ।
जो भी जभी निरखता अरु जानता है,
शुद्धात्म तत्त्व उसको वह भासता है ॥३०॥

जो मैं वही परम आतम है महात्मा,
ऐसा विचार करता वह अन्तरात्मा ।
मैं ही उपास्य मम हूँ स्तुति अन्य की क्यों ?
मैं साहुकार जब हूँ फिर याचना क्यों ? ॥३१॥

मैंने सभी विषय को विष मान त्यागा,
मेरा जिनेश ! जिस कारण भाग्य जागा ।
आनन्द-धाम मुझको अधुना मिला है,
विज्ञान-नीरज अतः उरमें खिला है ॥३२॥

दुर्गन्ध-रक्त-मल-पूरित-देह को जो,
है मानता न यति भिन्न निजात्म से ओ ।
निर्भीक यद्यपि करे तप भी करारी,
तो भी उसे न वरती वह मुक्ति-नारी ॥३३॥

जो जानता तन तथा निज आत्म-भिन्न,
होता नहीं वह कभी यति खेद-खिन्न ।
शीतातिशीत हिम से डरता नहीं है,
संतप्त चूलगिरिपे तपता वही है ॥३४॥

योगीन्द्र का मन सरोवर है निहाल,
ना हैं जहाँ कलुष राग तरंग जाल ।
स्वामी ! वही निरखता निज आत्मतत्त्व,
रागी नहीं वह कभी लखता स्वतत्त्व ॥३५॥